शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

नवम्बर : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, कार्तिक वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ७

ज्ञानोपदेश

हे जीव! तू किसे बदलेगा? और—

तुझे दूसरा कौन बदलेगा?

जगत के किसी पदार्थ को तू नहीं बदल सकता, और तुझे जगत का कोई पदार्थ नहीं बदल सकता।

तू और जगत के पदार्थ सब स्वतंत्ररूप से अपने-अपने परिणामरूप परिणमित हो रहे हैं।

इसप्रकार जगत के पदार्थों का स्वतंत्र परिणमन जानकर पर के कर्तृत्व की बुद्धि से तू विराम ले... विराम ले! पर से अपनी अत्यन्त भिन्नता जानकर स्व में अन्तर्मुख हो...

बहिर्मुख अज्ञानभाव से उत्पन्न हुआ दुःख, अन्तर्मुख ज्ञानभाव से दूर हो जाता है।—यही दुःख से छूटकर सुखी होने का उपाय है। *[प्रवचन से]*

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१६३]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नूतन वर्ष का मंगल-सन्देश

नूतन वर्ष के मंगल सन्देश में पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि—भेदज्ञान के फलरूप केवलज्ञानमय सुप्रभात जगत को मंगलरूप हो! केवलज्ञानरूप दिव्य सुप्रभात प्रगट होने का सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण है... हे जीवो! उसकी प्रतीति करके सम्यग्दर्शनरूप मंगल-प्रभात प्रगट करो! चैतन्य प्रभु की श्रद्धा करना मंगल है, उसका ज्ञान करना मंगल है, उसमें एकाग्रता करना मंगल है और उस श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता के फलरूप दिव्य केवलज्ञानमय प्रभात जगमगा उठे, वह जगत को उत्कृष्ट मंगलरूप है।

पुनीत पदचिह्नों पर....

कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातः काल पावापुरी धाम में महावीर भगवान अभूतपूर्व सिद्धपद को प्राप्त हुए... भव्य जीवों का परम इष्ट और अंतिम ध्येय ऐसा मोक्षपद आज भगवान ने प्राप्त किया... भगवान की मुक्ति का महान महोत्सव मनाया गया... उस परम आनन्दमय मोक्षपद के स्मरणमात्र से आज भी मोक्षार्थियों के हृदय नाच उठते हैं... और वे उल्लासपूर्वक कहते हैं कि हे भगवान! आप तो मुक्तिपुरी में पहुँच गये... आपके स्वाश्रय के उपदेश को झेलकर हम भी आपके पुनीत परचिह्नों पर चले आ रहे हैं....

आत्मधर्म

सम्पादक : रामजी माणेक चन्द दोशी, वकील

नवम्बर : १९५८ ☆ वर्ष चौदहवाँ, कार्तिक वीर नि. सं. २४८४ ☆ अंक : ७

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[३७-३८]

भाव-भावशक्ति और अभाव-अभावशक्ति

[गतांक नं० १६२ से आगे]

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनंत शक्तियों का वर्णन चल रहा है।

● आत्मा में कोई भी एक पर्याय विद्यमान वर्तती है—ऐसा 'भावशक्ति' में कहा। ३३।

● आत्मा में वर्तमान जो पर्याय वर्तती है, उसके अतिरिक्त आगे-पीछे की पर्यायें उसमें अविद्यमान हैं—ऐसा 'अभावशक्ति' में कहा।३४।

● वर्तमान में जो पर्याय वर्तती है, वह दूसरे समय अभावरूप हो जाती है—ऐसा 'भाव-अभाव' शक्ति में कहा।३५।

● दूसरे समय की जो पर्याय वर्तमान में अविद्यमान है, वह दूसरे समय प्रगट होती है—ऐसा 'अभाव-भाव' शक्ति में कहा।३६।

अब त्रिकालीभाव के आधार से वर्तमान भाव का अस्तित्व 'भाव-भाव' शक्ति में कहते हैं; उसमें त्रिकाली के आधार से वर्तमान कहकर द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाते हैं। ३७।

और द्रव्य-पर्याय की जो एकता हुई, उसमें पर का और विकार का अत्यन्त अभाव है, वह 'अभाव-अभाव' शक्ति में बतलाते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में 'भवती पर्याय के भवनरूप भाव-भाव शक्ति है,' तथा 'न भवती पर्याय के अभवनरूप अभाव-अभाव शक्ति है।'

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक-एक शक्ति के वर्णन में 'समयसार' का भंडार भर दिया है। प्रत्येक शक्ति में शुद्ध आत्मा का रस झर रहा है। किसी भी शक्ति द्वारा यदि आत्मा के स्वरूप को पहिचानने जाये तो अनंत गुण के पिण्ड ऐसे भगवान् आत्मा की सन्मुखता होकर अपूर्व आनन्द रस का अनुभव होता है।

मेरा स्वभाव अनंत गुणों का भंडार है—ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वहाँ त्रिकाली शुद्धभाव के आश्रय से उस पर्याय में स्वसंवेदनभाव वर्तता है। उसका नाम 'भाव-भाव' है। त्रिकाली भाव और वर्तमान भाव दोनों एक होकर वर्तते हैं—ऐसी भाव-भावशक्ति है। आत्मा त्रिकाल भावरूप रहकर प्रतिसमय भावरूप वर्तता है, इसप्रकार भवते भाव का भवन है। और आत्मा कभी पररूप नहीं होता; आत्मा में पर का अभाव है और वह सदैव अभावरूप ही रहता है—ऐसी अभाव-अभावशक्ति है। इसप्रकार यह शक्तियाँ आत्मा का स्व में एकत्व और पर से विभक्तपना बतलाती है। 'भाव-भाव' अर्थात् गुण का भाव और पर्याय का भाव—ऐसे दोनों भावसहित आत्मा वर्तता है; और 'अभाव-अभाव' अर्थात् अपने से भिन्न ऐसे परद्रव्य-गुण-पर्यायें सदैव अपने में अभावरूप से ही वर्तते हैं;—ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में हैं। 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है'—ऐसा लक्ष में लेने से उसमें यह सब शक्तियाँ साथ आ ही जाती हैं।

जहाँ शुद्ध चिदानन्द आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ ज्ञानादि गुण उस गुणरूप से नित्य रहकर वर्तमान निर्मल पर्यायरूप से वर्तते हैं, और उसीप्रकार निर्मलतारूप वर्तते रहेंगे। त्रिकाल भावरूप गुण का भवन-परिणमन होकर वर्तमान पर्यायरूप निर्मलभाव वर्तता है और अब गुण के परिणमन में वैसा ही भाव वर्तता रहेगा। साधक को शुद्धता की वृद्धि होती है, वह अलग बात है; किंतु अब निर्मल भाव में बीच में दूसरा विकारी भाव नहीं आयेगा; गुणों का ज्यों का त्यों निर्मल परिणमन होता रहेगा-ऐसी यह बात है।

ज्ञान त्रिकाल ज्ञानभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; प्रभुता का भाव त्रिकाल प्रभुतारूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; श्रद्धा त्रिकाल श्रद्धाभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होती है; आनन्द सदैव आनन्दभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; वीर्य त्रिकाल वीर्यशक्तिरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित

होता है;—इसप्रकार समस्त गुण अपने-अपने त्रिकालभावरूप रहकर अपनी-अपनी पर्याय के वर्तमानभावरूप परिणमित होते हैं; किंतु ज्ञान परिणमित होकर अन्य गुणों रूप हो जाये अथवा अन्य गुण परिणमित होकर ज्ञानादि रूप हो जायें—ऐसा नहीं होता। 'भाव का भवन' है, इसलिये त्रिकालरूप रहकर वर्तमानरूप परिणमित होता है। इसप्रकार त्रिकालभावरूप और वर्तमान भावरूप—ऐसा वस्तु का स्वभाव है, उसका नाम 'भाव-भावशक्ति' है। अहो! मेरे ज्ञान-दर्शनादि के त्रिकाली भाव जो पहले वर्तते थे, वे ही वर्तते रहेंगे, शक्तिरूप भाव है, उसमें से व्यक्ति प्रगट होगी; ज्ञान-दर्शन के भाव त्रिकाल ज्ञान-दर्शनरूप स्थिर रहकर अपनी-अपनी पर्याय में परिणमित होंगे।—ऐसे स्वभाव की जिसने प्रतीति की, उसे अब ज्ञान-दर्शन स्वभाव के आधार से ज्ञान-दर्शनमय निर्मल परिणमन ही होता रहेगा; बीच में अज्ञानभाव आये और भटकना पड़े—ऐसा नहीं होता। वर्तमान में जो जानता है, वह भविष्य में भी ज्ञातारूप ही रहेगा; वर्तमान में श्रद्धा करता है, वह भविष्य में भी श्रद्धा करेगा; क्योंकि ज्ञानादि का जो वर्तमान है, वह 'त्रिकाल का वर्तमान' है। त्रिकालीभाव के आश्रय से जो परिणमन हुआ, वह त्रिकाली भाव की जाति का शुद्ध ही होता है। और पर का आत्मा में अत्यन्त अभाव है, वह सदैव अभावरूप ही रहता है; रागादि का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है और उस स्वभाव के आश्रय से वर्तमान में भी उस राग के अभावरूप परिणमन हो जाता है। ऐसी आत्मा की 'अभाव-अभावशक्ति' है। राग को जानते हुए ज्ञान स्वयं रागरूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है।

जिसप्रकार—एक सुवर्ण की खान हो और दूसरी कोयले की। तो जिस ओर उन्मुखता करे, उसी की प्राप्ति होती है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनंत ज्ञानादि निर्मल शक्तियों का भंडार है; उसके सन्मुख दृष्टि करने से पर्याय में निर्मलता की प्राप्ति होती है और शरीरादि जड़ हैं, उनकी सन्मुखता से विकार की उत्पत्ति होती है। भाई! अपने आत्मा की शक्ति को पहिचान तो उसमें से निर्मलता की प्राप्ति हो।

वर्तमान में जो आत्मा वर्तता है, वहीं भूतकाल में वर्तता था और भविष्य में वही वर्तेगा;—इसप्रकार एक समय में त्रिकाल स्थित रहने की शक्ति आत्मा में विद्यमान है; त्रिकाल भावरूप रहकर वह उस-उस समय के भावरूप परिणमित होता है। परिणमित होने से वस्तुस्वभाव में कोई फेरफार नहीं हो जाता, अथवा उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। आत्मा त्रिकाल एकरूप स्वभाव से वर्तता है, और उस त्रिकाली एकरूप स्वभाव के साथ एकता करके वर्तमान भाव भी

एकरूप (शुद्धतारूप) ही वर्तता है। जहाँ शुद्धस्वभाव का आश्रय वर्तता है, वहाँ ऐसी शंका नहीं है कि मुझे अशुद्धता होगी, अथवा मैं पिछड़ जाऊँगा। क्योंकि आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिये आत्मस्वभाव के आश्रय से जिसका परिणमन है, उसे विकार होने की शंका नहीं होती। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को शुद्ध परिणमनपूर्वक शुद्धात्मद्रव्य की प्रतीति होती है। पहले जब कोई शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं था, तब विपरीत दृष्टि से विकार का ही परिणमन होता था; किंतु अब शुद्धात्मा की दृष्टि में विकार की अधिकता नहीं रही, शुद्धता की ही अधिकता रही।—ऐसी शुद्ध आत्मा की दृष्टि में सम्यक्त्वी को विकार का अभाव ही है।

आत्मा की शक्तियाँ अनंत है, किंतु अनंत शक्तियों के भावों से अभेद है। आत्मा की किसी भी एक शक्ति के भाव को यथार्थरूप से लक्ष में लेने पर अनंत शक्ति सम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा ही लक्ष में आ जाता है। सम्यक्त्वी की दृष्टि पूर्ण आत्मा को स्वीकार करती है; उस अखंड आत्मा की दृष्टि से उसके समस्त गुणों का निर्मलभाव प्रगट होता है। इसप्रकार 'सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व है।' शुद्धस्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ ज्ञान भी स्वसंवेदन से सम्यक् हुआ, चारित्र में भी आनन्द के अंश का वेदन हुआ, वीर्य का वेग भी स्वोन्मुख हुआ।—इसप्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सर्व गुणों में निर्मलता प्रारम्भ हो जाती है; किसी गुण में निर्मलता भले ही कम-अधिक हो, किंतु प्रतीति में तो पूर्ण निर्मलता आ ही गई है। सम्यग्दर्शन स्वयं तो श्रद्धागुण की पर्याय है, किंतु उसके साथ ज्ञानादि अनंत गुणों का भी निर्मल अंश वर्त ही रहा है। कोई कहे कि सम्यग्दर्शन तो हुआ किंतु आत्मा की अतीन्द्रिय शांति का वेदन नहीं हुआ; सम्यग्दर्शन तो हुआ किंतु आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान न हुआ, सम्यग्दर्शन तो हुआ किंतु वीर्य का वेग आत्मा की ओर नहीं ढला,—तो कहनेवाले ने अनंत गुणों से अभेद आत्मा को माना ही नहीं है; द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप आत्मा के भावों को उसने जाना ही नहीं है; और अपने को सम्यक्त्वी मानकर वह सम्यग्दर्शन के नाम से अपने स्वच्छन्द का पोषण कर रहा है।

आत्मा की भाव-भावशक्ति है, इसलिये उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय सदैव भावरूप ही हैं; जहाँ द्रव्यभाव है, वहीं गुण का भाव है; जहाँ द्रव्य-गुण का भाव है, वहीं पर्याय का भाव है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का भाव एक साथ ही है; एक ही पर्याय भले नित्य न रहे, किंतु पर्याय रहित द्रव्य-गुण कभी नहीं होते।

कोई कहे कि आत्मा में ज्ञान-आनन्दशक्ति तो है, किंतु वर्तमान में उसका कोई भाव भासित

नहीं होता; तो ऐसा कहनेवाले ने आत्मा की भाव-भावशक्ति को नहीं जाना है; निर्मल भाव के भवनसहित ही त्रिकाल भाव की प्रतीति होती है। निर्मलपर्याय हुए बिना 'भवती पर्याय' वाले आत्मा की प्रतीति कहाँ से होगी? जहाँ आत्मा के स्वभाव का भान हुआ, वहाँ निर्मल पर्यायरूप भवन (परिणमन) होता है। भाव-भावशक्ति के बल से द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायें तीनों अभेद होकर शुद्धरूप से वर्तते हैं, और उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में विकार का अभाव है। आत्मा की अभाव-अभावशक्ति का ऐसा बल है कि अपने से भिन्न शरीरादि पदार्थों को, कर्मों को या विकार को वह अपने स्वभाव में प्रवर्तमान नहीं होने देता। आत्मा के द्रव्य में, गुण में और उस ओर उन्मुख हुई शुद्ध पर्याय में,—तीनों में विकार का, कर्म का और शरीरादि का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा। द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता में अब कभी टूट नहीं पड़ेगी, और विकार के साथ कभी एकता नहीं होगी। विकार, आत्मा के साथ नहीं वर्तेगा किंतु पृथक हो जायेगा। ऐसी आत्मशक्ति को प्रतीति में लेकर उसमें एकता करना, सो मोक्ष का उपाय है।

आत्मा में एक ऐसी 'अभाव-अभाव' शक्ति है कि उसके द्रव्य-गुण-पर्याय, पर के अभावरूप ही है; आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणों में तथा उसकी पर्यायों में पर का तो अभाव वर्तता ही है; इसलिये कोई निमित्त प्राप्त करूँ तो मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विकास हो, यह बात नहीं रहती। देव-गुरु-शास्त्रादि के निमित्त भले हों, किंतु आत्मा में तो उनका अभाव है। यहाँ तो तदुपरान्त विकार के भी अभाव की सूक्ष्म बात लेना है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर का त्रिकाल अभाव है, उसका तो यह अर्थ हुआ कि पर के आश्रय से होनेवाले परभावों का भी आत्मा में अभाव है। तथा 'ज्ञानादि में जो अल्पता है, उसे दूर करके पूर्णता करूँ'—ऐसा भेद भी नहीं रहता। एकरूप शुद्धद्रव्य की सन्मुखता ही होती है और उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुई पर्याय शुद्ध ही होती जाती है; उसमें विकार का अभाव ही है।—ऐसा अभाव-अभावशक्ति का तात्पर्य है।

जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर हो, उसी को इन शक्तियों का रहस्य समझ में आता है। आत्मा में कर्मों का त्रिकाल अभाव है, वे कर्म कभी आत्मा में भावरूप से नहीं वर्तते। अज्ञानी पुकार करते हैं कि अरे! कर्म मार्ग नहीं देते। किंतु आचार्यदेव कहते है कि अरे भाई! अपने आत्मा की ओर तो देख! तेरे आत्मा में कर्म तो अनादि से अभावरूप वर्त ही रहे हैं; वे तेरे आत्मा में आये ही नहीं। कर्म का अभाव कहने से कर्म की ओर के विकारी भाव का भी आत्मा के स्वभाव में अभाव है—ऐसा

लक्ष में आता है और शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि जाती है; वहाँ पर्याय में भी विकार का अभाव वर्तता है। त्रिकाल में भी अभाव था और वर्तमान में भी अभाव हुआ,—ऐसा अभाव-अभावशक्ति का निर्मल परिणमन है। ऐसे आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले, तब जीवतत्त्व को यथार्थ माना कहा जाये। ऐसे जीवतत्त्व का आश्रय करते ही निर्मल पर्यायरूप संवर-निर्जरातत्त्व प्रगट होते हैं और उसी के आश्रय से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा होती है; तथा पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धरूप मलिन तत्त्वों का अभाव हो जाता है; शरीरादि अजीव का तो जीव में अभाव ही था।—इसप्रकार इसमें नवों तत्त्वों की स्वीकृति आ जाती है; तथा उनमें से उपादेय तत्त्वों का अंगीकार तथा हेय तत्त्वों का त्याग भी हो जाता है। इसका नाम धर्म है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो यह भगवान आत्मा अनादि से कभी विकाररूप प्रवर्तित ही नहीं हुआ। एकसमय की पर्याय के विकार को ही सम्पूर्ण आत्मा मान लेना तो अशुद्धदृष्टि-क्षणिकदृष्टि हो गई। शुद्ध द्रव्यस्वभाव को जानते हुए, उसके सन्मुख होने से पर्याय भी शुद्ध हो जाती है;—इसप्रकार शुद्ध द्रव्य तथा शुद्ध पर्याय की एकतारूप आत्मा प्रतीति में आये, वह सम्यक्श्रद्धा है। यदि अकेले द्रव्य को शुद्ध माने और द्रव्य के साथ शुद्धपर्याय न माने तो वह वेदान्त जैसा हो गया; उसने वास्तव में शुद्ध द्रव्य को भी नहीं जाना। शुद्ध पर्याय के बिना शुद्ध द्रव्य को जाना किसने? शुद्ध द्रव्य को जानते हुए पर्याय स्वयं शुद्ध न हो—ऐसा नहीं होता; क्योंकि द्रव्य के साथ पर्याय की एकता हुए बिना उसका यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। इसप्रकार 'विकार का आत्मा में अभाव है'—ऐसा स्वीकार करनेवाला शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर तदनुसार स्वीकार करता है। शुद्ध द्रव्य के आश्रय से पर्याय में शुद्धता प्रगट हुए बिना विकार के अभाव का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता।—यह मुख्य रहस्य है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में कर्म का और विकार का अभाव है; कर्म और विकार के अभावस्वरूप आत्मस्वभाव की जिसे दृष्टि हुई है, उसे ऐसा भय नहीं रहता कि कर्म मुझे हैरान करेंगे, अथवा ऐसा सन्देह नहीं होता कि मेरे आत्मा में से विकार प्रगट होगा। वह तो शुद्ध स्वभाव की सन्मुखता के बल से निःशंक और निर्भय वर्तता है।

''वर्तमान में तो हमें मिथ्यात्वादि नहीं हैं, किंतु भविष्य में हुए तो कौन जाने!''—ऐसी जिसे शंका है, उसे तो वर्तमान में ही मिथ्यादृष्टि जानना। अरे भाई! क्या मिथ्यात्वादि भाव तेरे स्वभाव में भरे है?—स्वभाव में तो उनका अभाव है। यदि ऐसे स्वभाव पर दृष्टि हो तो मिथ्यात्वादि

होने की शंका नहीं हो सकती। स्वभाव के बल से वर्तमान में मिथ्यात्वादि का अभाव हुआ और त्रिकाल में भी उनका अभाव ही है। रागादि के अभावरूप स्वभाव है; इसलिये उसमें से रागादि प्रगट हों—यह बात ही नहीं रहती।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल परभाव के त्यागस्वरूप ही है; परभाव का उसमें अभाव ही है। राग है और उसका अभाव करूँ—ऐसा भी स्वभावदृष्टि में नहीं है। पर्याय में राग का अभाव होता अवश्य जाता है; किन्तु ''राग का कुछ अभाव है और सम्पूर्ण अभाव करूँ''—ऐसे भेद का अवलम्बन ज्ञानी की दृष्टि में नहीं है; ज्ञानी की दृष्टि तो शुद्ध एकरूप स्वभाव पर ही है—कि जिसमें रागादि का सदैव अभाव ही है। इसप्रकार राग के अभावरूप चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि ही राग के अभाव का उपाय है। सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में स्वभावबुद्धि में सम्पूर्ण संसार का अभाव हो गया है।—ऐसे पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसका आश्रय किया, वहाँ पर्याय में भी राग का अभाव ही है।—इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में राग का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा।

''सिद्ध को विकार क्यों नहीं होता?''—तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव में ऐसी अभाव-अभावशक्ति है कि विकार का अपने में अभाव ही रखता है। सिद्ध भगवान को वह स्वभाव विकसित हो गया है, इसलिये उन्हें विकार नहीं होता। ''कर्म नहीं है, इसलिये सिद्ध को विकार नहीं होता;''—ऐसा कहना, वह तो निमित्त का कथन है। वास्तव में तो विकाररूप होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है, इसलिये सिद्ध को विकार नहीं होता।

आत्मा की ऐसी शक्ति है कि उसके ज्ञानगुण की पर्याय सदैव ज्ञानरूप ही हो; श्रद्धा का परिणमन श्रद्धारूप ही हो; आनन्द का परिणमन आनन्दरूप ही हो;—इसप्रकार समस्त गुण अपने-अपने भावरूप रहकर ही परिणमित हों, ऐसा स्वभाव है।—ऐसा आत्मा वह लक्ष्य है और लक्ष्य के आश्रय से निर्मल पर्याय होती रहती है। ज्ञान, अज्ञानरूप परिणमित हो; श्रद्धा, मिथ्यात्वरूप परिणमित हो अथवा आनन्द, दुःखरूप परिणमित हो—तो वह परिणमन लक्ष्य के लक्ष से नहीं हुआ है। गुण के साथ एकत्व होकर निर्मल परिणमित हो, उसी को वास्तव में गुण का परिणमन कहा जाता है। विकार वास्तव में गुण की परिणति नहीं, वह तो अद्धर से (ध्रुव के आधार बिना) होनेवाला क्षणिक परिणाम है। यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुव के आधार से जो निर्मल परिणमन हो, वही सच्चा भाव का भवन है। शक्तिवान शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणमन होते से ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान दोनों शुद्धरूप परिणमित होते हैं—दोनों की एकता होती है और बीच में से विकार की अड़चन निकल जाती है। ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान—इन दोनों रूप वस्तु स्वभाव है।

आत्मा ध्रुव रहकर वर्तमान-वर्तमान निर्मल भावरूप परिणमित हो—ऐसी भाव-भावशक्ति है; तथा त्रिकाल में और वर्तमान में दोनों में पर का तथा विकार का अभाव ही रखे—ऐसी अभाव-अभावशक्ति है। यह दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकसाथ वर्तती है।—ऐसा इस ३७ तथा ३८वीं शक्ति में बतलाया।

इसप्रकार ३३-३४, ३५-३६ तथा ३७-३८ इन छह शक्तियों में भाव-अभाव सम्बन्धी कुल छह बोल कहे। मिथ्यात्व का अभाव होकर वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय प्रगट होती है, उसमें यह छह बोल निम्नानुसार लागू होते हैं:—

(१) सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान विद्यमान वर्तती है, वह 'भाव' [३३]

(२) वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय में पूर्व की मिथ्यात्व पर्याय अविद्यमान है तथा भविष्य की केवलज्ञान पर्याय भी अविद्यमान है, वह 'अभाव' [३४]

(३) पहले समय मिथ्यात्व भावरूप था, वह वर्तमान में अभावरूप हुआ, वह 'भाव-अभाव'; (अथवा जो सम्यग्दर्शन पर्याय वर्तमान भावरूप है, वह दूसरे समय अभावरूप हो जायेगी, वह 'भाव-अभाव') [३५]

(४) पूर्व समय में सम्यक्त्व का अभाव था और वर्तमान समय में वह प्रगट हुआ, वह 'अभाव-भाव' (अथवा दूसरे समय की जो सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान अभावरूप है, वह दूसरे समय भावरूप होगी -यह 'अभाव-भाव'।) [३६]

(५) श्रद्धागुण नित्य श्रद्धाभावरूप रहकर सम्यक्त्वपर्याय के भावरूप हुआ है, वह 'भाव-भाव' [३७]

(६) श्रद्धा के सम्यक् परिणमन में पर का तथा मिथ्यात्वादि का अभाव है और अभाव ही रहेगा, वह 'अभाव-अभाव।' [३८]

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा के परिणमन में वे छहों धर्म एकसाथ ही वर्तते हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व पर्याय की भाँति केवलज्ञान-सिद्धदशा आदि में भी वे छहों प्रकार एक साथ लागू होते हैं, उन्हें समझना चाहिये।

'अभाव-भाव' कहने से वर्तमान में जो पर्याय हुई, वह पहले अभावरूप थी; इसप्रकार उसमें 'प्राक्अभाव' आ जता है। तथा 'भाव-अभाव' कहने से वर्तमान में जो पर्याय विद्यमान है, वह बाद के समयों में अभावरूप हो जायेगी; इसप्रकार, उसमें 'प्रध्वंस-अभाव' आ जाता है।

'अभाव-अभाव' कहने से जीव में अपने से भिन्न ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का त्रिकाल अभाव ही है; इसप्रकार उसमें 'अत्यन्त-अभाव' भी आ जाता है; और 'अन्योन्य अभाव' तो पुद्गलों की वर्तमान पर्यायों में ही परस्पर लागू होता है।

भाव-अभाव सम्बन्धी जो छह शक्तियाँ कहीं, वे एक-सी नहीं है किंतु प्रत्येक में अंतर है।

प्रश्न:—३३ वीं 'भाव' शक्ति कही और ३७वीं भाव-भावशक्ति कही उन दोनों में क्या अंतर है?

उत्तर:—'भावशक्ति' में तो वर्तमान पर्याय की बात थी, वह तो भविष्य में अभावरूप हो जायेगी; जबकि 'भाव-भावशक्ति' में तो जो ज्ञानादिभाव हैं, वे त्रिकाल ज्ञानादि भावरूप ही रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। इसप्रकार दोनों में अंतर है।

प्रश्न:—34वीं 'अभावशक्ति' कही और 38वीं 'अभाव-अभावशक्ति' कही, उन दोनों में अंतर है?

उत्तर:—जो 'अभावशक्ति' कही, उसमें तो वर्तमान पर्याय में भूत-भविष्य की पर्याय के अभाव की बात है और इस 'अभाव-अभावशक्ति' में तो त्रिकाल अभाव की बात है। जैसे कि—साधक को भविष्य की केवलज्ञानपर्याय का वर्तमान में जो अभाव है, वह अभावशक्ति में आता है; किंतु 'अभाव-अभावशक्ति' में वह नहीं आता। क्योंकि यदि वह केवलज्ञानपर्याय अभाव-अभावरूप हो, तब तो वह सदैव अभावरूप ही रहेगी; इसलिये भविष्य में भी कभी केवलज्ञान प्रगट ही नहीं होगा;—किंतु भविष्य में वह भावरूप हो सकती है और पर का आत्मा में अभाव है, वह तो त्रिकाल अभावरूप ही रहता है, भविष्य में भी वह आत्मा में भावरूप नहीं वर्तेगा: इसलिये वह अभाव-अभावशक्ति में आता है।

प्रश्न:—३५वीं 'भाव-अभावशक्ति' कही और ३६ वीं 'अभाव-भावशक्ति' कही—उन दोनों में क्या अंतर है?

उत्तर:—'भाव-अभाव' में विद्यमान पर्याय का व्यय होने की बात है और 'अभाव-भाव' में अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होने की बात है।—इसप्रकार एक ही समय में दोनों होने पर भी उसमें विवक्षाभेद है।

एक साथ अनंत शक्तिवान चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को प्रतीति में लेकर उसके साथ ज्ञान की एकता करना, सो मोक्ष का उपाय है।

यहाँ ३७वीं भाव-भावशक्ति का तथा ३८ वीं अभाव-अभावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

आठ अंगों से जगमगाता हुआ
सम्यक्त्वरूपी सूर्य
[सम्यक्त्वी के आठ अंग का अद्भुत वर्णन]
[२]
(समयसार गाथा २३३ से ३६ के प्रवचनों से)

—अंक १६० से आगे—

(५) सम्यक्दृष्टि का उपगूहन अंग

मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ—इसप्रकार अंतरस्वभाव के अनुभवपूर्वक जहाँ निःशंक प्रतीति हुई, वहाँ सम्यक्त्वी निर्भरूप से अपने स्वरूप की साधना करता है; वहाँ उसे सात प्रकार के भय नहीं होते और निःशंकतादि आठ प्रकार के गुण होते हैं; उन गुणों का यह वर्णन चल रहा है। सम्यक्त्वी की निःशंकता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि—इन चार अंगों का वर्णन हो गया है अब पाँचवें उपगूहन अंग का वर्णन करते हैं।

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३३॥

सम्यक्त्वी धर्मात्मा सिद्धभक्ति सहित है; सिद्धभक्ति में अर्थात् सिद्ध समान अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग को गुप्त किया है (लगाया है), इसलिये धर्मी को 'उपगूहन' है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशक्तियों में वृद्धि होती है, इसलिये 'उपबृंहण' भी है। मैं चिदानन्दस्वभाव हूँ—इसप्रकार उपयोग को अंतर में लगाया, वहाँ गुणों का उपबृंहण और रागादि विकार का उपगूहन हो गया। स्वभाव की शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ दोषों का उपगूहन हो गया। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से धर्मात्मा को प्रतिक्षण गुण की शुद्धता बढ़ती जाती है और दोष टलते जाते हैं—उसका नाम उपबृंहण अथवा उपगूहन है। धर्मी की दृष्टि में अल्प दोष की मुख्यता होकर स्वभाव ढँक जाये, ऐसा कभी नहीं होता। अल्प दोष हो, उसे जानते हैं किन्तु उससे ऐसी शंका नहीं करते कि मेरा सम्पूर्ण स्वभाव मलिन हो गया। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता में

धर्मी को अल्प दोष की गौणता होने से उपगूहन अंग वर्तता ही है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है, इसलिये धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है।

धर्मी ने अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव में उपयोग लगाया है, उसका नाम परमार्थ से 'सिद्धभक्ति' है। जहाँ शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि है, वहाँ अल्पदोष पर दृष्टि ही नहीं है, इसलिये उसे दोष का उपगूहन वर्तता है। चैतन्यस्वभाव को प्रसिद्ध करके धर्मी ने दोष का उपगूहन कर डाला है, एक क्षण भी दोष को मुख्य करके स्वभाव से च्युत नहीं होता, इसलिये उसे शुद्धता बढ़ती ही जाती है।—ऐसा धर्मी का उपगूहन है; उसका प्रतिसमय मोक्ष पर्याय की ओर परिणमन हो रहा है। अहो! दृष्टि का ध्येय तो द्रव्य है और द्रव्य तो मुक्तस्वरूप है; इसलिये मुक्तस्वरूप की दृष्टि में धर्मी प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। वास्तव में मिथ्यात्व ही संसार है और सम्यक्त्व ही मुक्ति है। धर्मी को अंतर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है, उसी की भक्ति है और उसका फल मुक्ति है। पर्याय के अल्पदोष के प्रति आदरभाव नहीं है; इसलिये उसकी भक्ति नहीं है; वह अल्पदोष को मुख्य करके स्वभाव की शुद्धता को नहीं भूल जाता। ऐसे धर्मात्मा की अशुद्धता घटती जाती है और शुद्धता में वृद्धि होती है—इसलिये उसे बंधन नहीं होता किंतु कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है—इसप्रकार अल्पकाल में वह मुक्त हो जायेगा।

धर्मी को भी जो राग है, वह कहीं निर्जरा का कारण नहीं है। किंतु अंतर्मुख दृष्टि के परिणमन से प्रतिक्षण जो आत्मबुद्धि की वृद्धि होती है, वही निर्जरा का कारण है। किंचित् निर्बलता से राग होता है, किंतु उस राग के प्रति धर्मी की दृष्टि का जोर नहीं है; धर्मी की दृष्टि का जोर तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति स्वभाव पर ही है; उस दृष्टि के जोर से शुद्धि की वृद्धि होकर कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है।

❀❀❀

(६) सम्यक्दृष्टि का स्थितिकरण अंग

ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा में सम्यक्त्वी को निःशंकतादि आठ गुण होते हैं, उनका यह वर्णन है।

उन्मार्ग गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थिति करणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३४॥

धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि अंतर स्वभाव की श्रद्धा के बल से अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर

रखता है; किसी भी प्रसंग के भय से वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने देता। यद्यपि अस्थिरता के रागादि होते हैं, तथापि ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा के बल से वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता; श्रद्धा के बल से स्वयं अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है;—वही सम्यक्दृष्टि का स्थितिकरण अंग है।

धर्मी को राग-द्वेषादि के विकल्प तो आते हैं, किन्तु मोक्षमार्ग से विरुद्धता के विकल्प उसे नहीं आते; अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के पोषण के अथवा रागादि से धर्म होता है—ऐसी मिथ्या मान्यतारूप उन्मार्ग की पुष्टि के विकल्प उसे कदापि नहीं आते। अन्य जो अस्थिरता के विकल्प आते हैं, उन्हें ज्ञायकस्वभाव में एकाकाररूप से स्वीकार नहीं करता, अपने ज्ञायकस्वभाव को विकल्प से पृथक् ही पृथक् देखता है; इसलिये सम्यक् दर्शनरूप मार्ग में स्थितिकरण तो उसे सदैव वर्तता ही है। किन्तु अस्थिरता से ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग के प्रति कदाचित् किसी समय मन्द उत्साह हो जाये और वृत्ति डिग जाये तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की दृढ़ता द्वारा पुनः दृढ़रूप से अपने आत्मा को मार्ग में स्थिर करते हैं, अपने आत्मा को मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते देते।—ऐसा धर्मी का स्थितिकरण अंग है। ऐसे स्थितिकरण के कारण धर्मी का आत्मा मार्ग से च्युत नहीं होता; इसलिये मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बंध उसे नहीं होता किंतु निर्जरा ही होती है।

धर्मात्मा अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होने देते। तथा किसी साधर्मी को मोक्षमार्ग के प्रति कदाचित् निरुत्साही होकर डिगते देखें तो उसे उपदेशादि द्वारा मोक्षमार्ग के प्रति उल्लसित करके दृढ़रूप से मार्ग में स्थिर करते हैं।—ऐसा स्थितिकरण का शुभभाव भी धर्मी को सहज ही आ जाता है।

किंचित् कोई डिगने का विचार आ जाये तो वहाँ धर्मी स्वभाव की दृष्टि से अपने आत्मा को पुनः मोक्षमार्ग में दृढ़रूप से स्थिर करते हैं;—इसप्रकार अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करना, सो निश्चयस्थितिकरण है; और व्यवहार से दूसरे आत्मा को भी मोक्षमार्ग से च्युत होता देखकर उपदेशादि द्वारा मोक्षमार्ग में स्थिर करने का शुभभाव धर्मी को आता है, वह व्यवहार स्थितिकरण है। "अहो! ऐसा महा पवित्र जैनधर्म! ऐसा अपूर्व मोक्षमार्ग!! जिसकी पहले कभी आराधना नहीं की, ऐसा मोक्षमार्ग... उसकी साधना करके अब मोक्ष में जाने का अवसर आया है... तो उसमें प्रमाद या अनुत्साह कैसे हो सकता है?"—इसतरह अनेक प्रकार से मोक्षमार्ग की महिमा प्रसिद्ध करके सम्यक्त्वी अपने आत्मा तथा दूसरे के आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करते हैं—उसका नाम स्थितिकरण है।

(७) सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अंग

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य ॥२३५॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, यह तीनों मोक्षमार्ग के साधक होने से 'साधु' हैं; उन तीन साधुओं के प्रति अर्थात् रत्नत्रय के प्रति धर्मात्मा को परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है। व्यवहार में तो आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओं के प्रति वात्सल्य होता है, और निश्चय से अपने रत्नत्रयरूप तीन साधुओं के प्रति परम वात्सल्य होता है। यहाँ निर्जरा का अधिकार होने से निश्चय अंगों की मुख्यता है, इसलिये आचार्यदेव ने निःशंकतादि आठों अंगों का निश्चयस्वरूप बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेद बुद्धिरूप से सम्यक्रूप देखते हैं, इसलिये वे मार्गवत्सल हैं अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अत्यन्त प्रीतिवान हैं, इसलिये उन्हें मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला बंध नहीं है किंतु निर्जरा ही है।

देखो, आठों अंग के वर्णन में "टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपने के कारण..." ऐसा कहकर आचार्यदेव ने विशिष्टता बतलाई है। सम्यग्दृष्टि सदैव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है, इसलिये उसे शंका, कांक्षा आदि दोष नहीं होते और इसीलिये उसे निःशंकतादि आठ गुण होते हैं और उससे उसे निर्जरा होती है। इसप्रकार टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपना वह मूलवस्तु है; उसी के अवलम्बन से यह निःशंकतादि आठों गुण टिके हैं, और उसी के अवलम्बन से निर्जरा होती है। धर्मी की दृष्टि में से उस स्वभाव का अवलम्बन कभी एक क्षणमात्र भी नहीं हटता।

यहाँ वात्सल्य के वर्णन में भी आचार्यदेव ने अद्भुत बात कही है। सम्यक्त्वी को रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है। क्यों?—तो कहते हैं कि वह रत्नत्रय को अपने से अभेद बुद्धि देखता है, इसलिये उसके प्रति उसे परम वात्सल्य होता है। देखो, इस वात्सल्य में विकल्प की या राग की बात नहीं है, किंतु "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मेरा स्वभाव ही है"—इसप्रकार रत्नत्रय का अपने आत्मा के साथ अभेदरूप अनुभव करना, उससे किंचित् भेद न रखना ही उसके प्रति परम वात्सल्य है। जिस वस्तु को अपनी माने, उसके प्रति प्रेम होता है। जिसप्रकार गाय को अपने बछड़े पर अत्यन्त प्रेम होता है; उसी प्रकार धर्मी जानता है कि यह रत्नत्रय तो मेरे घर की-मेरे स्वभाव की वस्तु है; इसलिये उसे रत्नत्रय के प्रति अत्यन्त प्रेम होता है।

'श्रद्धा' को एकपना ही अच्छा लगता है; उसे भेद या अपूर्णता पसन्द नहीं आती। सम्यग्श्रद्धा द्वारा धर्मात्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा के साथ अभेदबुद्धिरूप देखता है; रागादि के साथ उसे अपनी एकता भासित ही नहीं होती।—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा रत्नत्रय को अपने साथ अभेदबुद्धि से देखता है, इसलिये उस रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के प्रति वह अत्यन्त प्रीतिवान है। मोक्षमार्ग के प्रति उसे परमवात्सल्य होता है और रागादि विभाव के प्रति प्रेम नहीं होता।

देखो, यह धर्मी का वात्सल्य अंग! धर्मी को अपने आत्मा में ही रति-प्रीति है। गाथा २०६ में कहा था कि—

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्॥२०६॥

हे भव्य! तू इसमें-इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में नित्य प्रीति कर, इसमें नित्य संतुष्ट हो और इससे तृप्त हो; तुझे उत्तम सुख होगा।

अहो! जिसे आत्मा का हित करना हो—सच्चे सुख की अभिलाषा हो, उसे आत्मा का परम प्रेम करना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि—'जगत इष्ट नहिं आत्म थी;' इसलिये जो धर्मी है अथवा धर्म का सच्चा जिज्ञासु है, उसे जगत् की अपेक्षा आत्मा प्रिय है; आत्मा की अपेक्षा जगत् में उसे कुछ भी प्रिय नहीं है।

देखो, गाय को अपने बछड़े के प्रति कैसा प्रेम होता है! और बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है!! उसीप्रकार धर्मी को अपने रत्नत्रय स्वभावरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेदबुद्धि से वात्सल्य होता है। इसमें राग की बात नहीं है, किन्तु रत्नत्रय में जो अभेदबुद्धि है, वही परम वात्सल्य है। और अपने को रत्नत्रय में परम वात्सल्य होने से बाह्य में अन्य जिन-जिन जीवों में रत्नत्रयधर्म को देखते हैं, उनके प्रति भी उन्हें वात्सल्य आये बिना नहीं रहता; वह व्यवहार वात्सल्य है।

धर्मात्मा को जगत् में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परम प्रिय है, संसार संबंधी अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। धर्मी जीव सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को अपने आत्मा के साथ अभेदरूप देखता है, इसलिये उसे मोक्षमार्ग की अत्यन्त प्रीति है और निमित्तरूप से मोक्षमार्ग के साधक सन्तों के प्रति उसे परम आदर होता है; तथा उस मोक्षमार्ग को दर्शानेवाले सर्वज्ञ भगवान

और वीतरागी शास्त्रों के प्रति प्रेम आता है। कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति अथवा मिथ्यात्वादि परभावों के प्रति धर्मात्मा को स्वप्न में भी प्रेम नहीं आता। इसप्रकार अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग) को देखता है; इसलिये धर्मात्मा को मार्ग की अप्राप्ति के कारण होनेवाला बन्धन नहीं होता, किंतु निर्जरा ही होती है। मार्ग को तो अपने आत्मा के साथ अभेदरूप ही देखता है, इसलिये मार्ग के प्रति उसे परमवात्सल्य है। देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रति जिसे अभेदबुद्धि हो, उसी को मोक्षमार्ग के प्रति सच्चा वात्सल्य है; जिसे रत्नत्रय के प्रति किंचित् भी भेदबुद्धि है अर्थात् रत्नत्रय को अभेद आत्मा के आश्रित न मानकर राग के या पर के आश्रय से जो रत्नत्रय की प्राप्ति होना मानता है, उसे सचमुच रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य नहीं है, किन्तु उसे तो राग के प्रति तथा पर के प्रति वात्सल्य है। धर्मी सम्यग्दृष्टि तो रत्नत्रय को अपने से अभेदबुद्धिरूप देखता है अर्थात् पर के आश्रित किंचित् भी नहीं देखता, इसलिये उसे रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है।

(८) सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अंग

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३६॥

सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति के विकास द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, इसलिये वह प्रभावना करनेवाला है।

देखो, यह जिनमार्ग की प्रभावना!

चेतयिता अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ है अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ़ हुआ है,—उसे अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ का ही उसे अवलमबन हुआ है.. और उस ज्ञानरथ में आरूढ़ होकर मनरूपी रथपंथ में अर्थात् ज्ञानमार्ग में ही भ्रमण करता है। इसप्रकार स्वभावरूपी रथ में बैठकर ज्ञानमार्ग में प्रयाण करता हुआ, ज्ञानस्वरूप में परिणमित होता हुआ सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करता है। अंतर में ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा धर्मी को ज्ञान का विकास ही होता जाता है,—यही भगवान के मार्ग की सच्ची प्रभावना है।

इसके अतिरिक्त सोने-चाँदी के रथ में हाथी आदि जोतकर उसमें जिनेन्द्र भगवान को या भगवान के कहे हुए परमागम को विराजमान करके रथयात्रा द्वारा जगत् में उनकी महिमा प्रसिद्ध

करना, सो व्यवहार-प्रभावना है। भगवान के मार्ग के प्रति अतिशय बहुमान होने से, उनकी महिमा जगत् में किसप्रकार बढ़े—ऐसी व्यवहार प्रभावना का भाव धर्मी को आता है। किंतु जिसने अंतर में भगवान का और भगवान के कहे हुए ज्ञानमार्ग का सच्चा स्वरूप जाना हो अर्थात् ज्ञानस्वरूपी रथ में आरूढ़ होकर अपने में ज्ञानमार्ग की निश्चय प्रभावना प्रगट की हो, उसी को सच्ची व्यवहार प्रभावना होती है।

आत्मा चैतन्यस्वरूपी है; उसे अनुभव में लेकर सम्यग्दृष्टि जीव चैतन्य विद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर ज्ञानमार्ग में परिणमन करता है; इसप्रकार वह धर्मात्मा जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है। देखो, यह धर्मी की प्रभावना! 'प्र... भावना' अर्थात् चैतन्यस्वरूप की विशेष भावना कर-करके धर्मी जीव अपनी ज्ञानशक्ति का विकास करता है, वही प्रभावना है। ज्ञान की विशेष भावनारूप प्रभावना द्वारा धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है। देखो, अपने ज्ञानस्वरूप की विशेष भावना ही जिनमार्ग की सच्ची प्रभावना है।

जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के वीतराग बिम्ब को रथ आदि में स्थापित करके बहुमान पूर्वक नगर में घुमाया जाता है।—ऐसा शुभभाव, वह व्यवहारप्रभावना है, क्योंकि तदनुसार भगवान की रथयात्रा आदि देखकर बाह्य में लोगों को जैनधर्म की महिमा आती है और इसप्रकार जैनधर्म की प्रभावना होती है।—यह तो व्यवहार प्रभावना है; शुभराग के समय ऐसा प्रभावना का भाव भी धर्मी को आता है। अहो! ऐसा वीतरागी जिनमार्ग! वह लोक में प्रसिद्ध हो और लोग उसकी महिमा को जानें—ऐसा भाव धर्मात्मा को आता है। और निश्चय से ज्ञान को अन्तर में चैतन्यरथ में जोतकर स्वभाव की विशेष भावना द्वारा अपने ज्ञान की प्रभावना करते हैं। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा जो अनुभव हुआ है, उसमें बारम्बार उपयोग को लगाते हुए धर्मात्मा अपने आत्मा को जिनमार्ग में आगे बढ़ाते हैं, वह निश्चय से प्रभावना है। पुण्य-पाप के रथ से उतारकर आत्मा को चैतन्यरथ में बैठाना और इसप्रकार चैतन्यरथ में बैठाकर उसे जिनमार्ग में-मोक्षमार्ग में ले जाना, सो धर्म की सच्ची प्रभावना है; ऐसी प्रभावना से धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है और अप्रभावनाकृत बन्धन उसे नहीं होता।

❀❀❀

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने चैतन्यस्वरूप सम्बन्धी निःशंकता, चैतन्य से भिन्न परद्रव्यों के प्रति निःकांक्षादि आठ अंग होते हैं—उनका वर्णन किया। यह आठ अंग आत्मस्वरूप के

आश्रित हैं, इसलिये वह निश्चय हैं। और शुभरागरूप जो नि:शंकतादि आठ अंग हैं, वे पराश्रित होने से व्यवहार है। यहाँ तो निर्जरा अधिकार है; इसलिये आचार्यदेव ने निर्जरा के कारणरूप आठ अंगों का वर्णन आठ गाथाओं द्वारा किया है। इन आठ अंगरूपी तेजस्वी किरणों से जगमगाते हुए सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का प्रताप सर्व कर्मों को भस्म कर देता है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इन नि:शंकतादि आठ गुणों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र द्वारा समस्त कर्मों का घात करके मोक्ष की साधना करते हैं।

अहो! नि:शंकतादि आठ अंगरूपी दिव्य किरणों से जगमगाता हुआ सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य अपने दिव्य प्रताप द्वारा आठों कर्मों को भस्म करके आत्मा को सिद्धपद की प्राप्ति कराता है।

जयवंत वर्ते ऐसे सम्यक्त्व सूर्य का महान उदय!

मोक्ष के साधन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

[मोक्ष अधिकार के प्रवचनों से। श्रावण शुक्ला २ वीर सं० २४८३]

जिज्ञासुओं को समझने में सरलता हो, इसलिये यह विषय प्रश्नोत्तररूप में उपस्थित किया है।

नोट—इस लेख के प्रश्नोत्तर नं० ६४ से १०० तक भूल से गतांक नं १६१ में दिये जा चुके हैं अत: पाठकगण क्रमवार देखकर पढ़ें।

१०१-प्रश्न:—मोक्ष का क्या अर्थ है?

उत्तर:—मोक्ष अर्थात् बन्धन से छुटकारा। आत्मा अपने मिथ्यात्वादि भावों से बँधा है; सम्यग्दर्शनादि द्वारा उससे छुटकारा होना और आत्मा को पूर्व ज्ञान-आनंद की प्राप्ति होना, सो मोक्ष है।

१०२-प्रश्न:—उस मोक्ष का उपाय क्या है?

उत्तर:—प्रज्ञाछैनी द्वारा आत्मा के स्वभाव और विभाव को भिन्न करना, सो मोक्ष का उपाय है।

१०३-प्रश्नः—प्रज्ञाछैनी को कहाँ और किस प्रकार पटकना चाहिये ?

उत्तरः—प्रवीण पुरुषों को—मोक्षार्थी पुरुषों को आत्मा और बन्ध की सूक्ष्म संधि के बीच सावधान होकर पुरुषार्थपूर्वक उसे पटकना चाहिये।

१०४-प्रश्नः—प्रज्ञाछैनी को पटकने का अर्थ क्या ?

उत्तरः—प्रज्ञाछैनी को पटकना अर्थात् ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा के स्वभाव में एकाग्र करना और रागादि में एकाग्र न करना।

१०५-प्रश्नः—इसप्रकार प्रज्ञाछैनी को पटकने से क्या होता है ?

उत्तरः—वह प्रज्ञाछैनी गिरते ही आत्मा और बन्ध को विदीर्ण कर देती है अर्थात् दोनों को पृथक्-पृथक् कर देती है; आत्मा को तो वह शुद्ध ज्ञान-आनन्द के प्रवाह में मग्न करती है और बन्ध को भिन्न करके उसे अज्ञानभाव में स्थापित करती है। इसप्रकार वह आत्मा और बन्ध को पृथक् करते हुए गिरती है।

१०६-प्रश्नः—प्रज्ञाछैनी कैसी है ?

उत्तरः—प्रज्ञाछैनी अर्थात् ज्ञानस्वरूप बुद्धि, अथवा आत्मा में एकाग्र हुआ ज्ञान;—वह आत्मा से अभिन्न है, और वही आत्मा को मोक्ष का साधन है।

१०७-प्रश्नः—प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है और दूसरा क्यों नहीं है ?

उत्तरः—क्योंकि मोक्ष का कर्ता आत्मा है और निश्चय से कर्ता का साधन उससे भिन्न नहीं होता; इसलिये आत्मा से अभिन्न ऐसी प्रज्ञा ही मोक्ष का साधन है। उससे भिन्न कोई मोक्ष का साधन नहीं है।

१०८-प्रश्नः—शास्त्रों में तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का कारण कहा है और यहाँ प्रज्ञाछैनी को ही मोक्ष का साधन क्यों कहा ?

उत्तरः—ठीक है; इस 'प्रज्ञाछैनी' में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहो या 'प्रज्ञा' को मोक्ष का कारण कहो, उसमें कोई विरोध नहीं आता।

१०९-प्रश्नः—मोक्षार्थी को प्रथम क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—मोक्षार्थी को प्रथम तो आत्मा और बन्ध को उनके स्वलक्षणों के ज्ञान से सर्वथा पृथक् करना चाहिये।

११०-प्रश्नः—फिर क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—फिर उपयोग जिसका लक्षण है—ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना, और रागादिक जिस का लक्षण है—ऐसे समस्त बंध को छोड़ना चाहिये।

१११-प्रश्नः—प्रथम शुभराग करे तो उससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होगी ?

उत्तरः—नहीं; राग तो अनादि से कर ही रहा है, उसके द्वारा कभी मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नहीं होता। आत्मा और बन्ध के भेदज्ञान द्वारा ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है; इसलिये मोक्षार्थी को प्रथम तो आत्मा और बन्ध का भेदज्ञान करना चाहिये।

११२-प्रश्नः—आत्मा और बन्ध का सर्वथा छेदने का अर्थ क्या ?

उत्तरः—सर्वथा छेदना अर्थात् राग के एक अंश से भी लाभ न मानना; सर्व प्रकार के बन्ध भावों को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानना चाहिये। किसी भी प्रकार के राग से मुझे किंचित् लाभ होगा—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसने आत्मा और बन्ध का सर्वथा छेदन नहीं किया है। समस्त प्रकार के बन्ध भावों को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानकर जिसने ज्ञानस्वभाव में एकता की, उसी ने आत्मा और बन्ध का सर्वथा छेदन किया है।

११३-प्रश्नः—जिसे तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ, वह जीव तीसरे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है और तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध तो राग से ही होता है; तो राग मोक्ष का कारण हुआ या नहीं ?

उत्तरः—राग तो बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा ? जिसे तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ, वह तीसरे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त करेगा—यह बात ठीक है, किंतु वह कहीं तीर्थंकरप्रकृति से मोक्ष प्राप्त नहीं करता, तथा उस राग के कारण भी मोक्ष प्राप्त नहीं करता; किन्तु तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध करते समय जो भेदज्ञान वर्तता है, वही मोक्ष का कारण होता है। विचार तो करो कि राग अन्तर्मुखभाव है या बहिर्मुख ? राग तो बहिर्मुखभाव ही है, तो फिर बहिर्मुखभाव के द्वारा अंतरस्वभाव में कैसे पहुँचा जा सकता है ? नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिये राग, वह मोक्ष का कारण नहीं है। जब उस राग का अभाव करेगा, तभी केवलज्ञान और मोक्ष होगा।

११४-प्रश्नः—प्रभो ! बन्ध को छोड़कर शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिये—ऐसा आपका आदेश है; तो उस आत्मा का ग्रहण किसके द्वारा किया जाये ?

उत्तर:—जिसप्रकार प्रज्ञा द्वारा आत्मा को पृथक् किया, उसीप्रकार प्रज्ञा द्वारा ही उसे ग्रहण करना चाहिये।

११५-प्रश्न:—व्यवहार के शुभराग द्वारा आत्मा का ग्रहण क्यों नहीं हो सकता?

उत्तर:—राग से आत्मा का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि राग से तो आत्मा को पृथक् किया है; तो फिर जिससे आत्मा को पृथक् किया, उसी के द्वारा आत्मा का ग्रहण कैसे हो सकता है? मोक्षरूपी कार्य में आत्मा को भिन्न साधन का अभाव है-यह बात पहले ही बता चुके हैं।

११६-प्रश्न:—पंचमहाव्रत या अट्ठाईस मूलगुण का शुभराग, स्थिरता का कारण है या नहीं?

उत्तर:—नहीं; शुभराग, वह कारण और स्वरूप स्थिरता उसका कार्य—वह कैसे हो सकता है? शुभराग तो बन्ध का कारण है और स्वरूप स्थिरता मोक्ष का; तो फिर जो बन्ध का कारण है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा?—नहीं हो सकता; इसलिये शुभराग, वह स्वरूप स्थिरता का कारण नहीं है।

११७-प्रश्न:—आत्मा को ग्रहण करने का क्या अर्थ?

उत्तर:—आत्मा को ग्रहण करना अर्थात् आत्मा में स्थिर होना। जिस प्रकार ज्ञान को अन्तर्मुख करके प्रज्ञा द्वारा भेदज्ञान किया, उसी प्रकार ज्ञान को अंतर्मुख करके एकाग्र होना चाहिये;—इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा का ग्रहण होता है।

११८-प्रश्न:—आत्मा को पर से भिन्न करने का साधन, और पर से भिन्न आत्मा को ग्रहण करने का साधन-यह दोनों एक हैं या भिन्न?

उत्तर:—दोनों एक ही हैं। जिसप्रकार आत्मा को भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक साधन था, उसीप्रकार शुद्ध आत्मा को ग्रहण करने में भी प्रज्ञा ही एक साधन है। भिन्न करने और ग्रहण करने के साधन-कारण पृथक्-पृथक् नहीं होते।

११९-प्रश्न:—प्रभो! आपने प्रज्ञा द्वारा शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना कहा है, तो इस आत्मा को प्रज्ञा द्वारा कैसे ग्रहण किया जाये?

उत्तर:—हे भव्य! सुन! निम्नोक्त प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिये:—

नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा द्वारा पृथक् किया गया जो चेतक, वह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य यह जो शेष व्यवहाररूप भाव हैं वे सब, चेतकपनेरूपी व्यापक

के व्याप्य नहीं होते इसलिये, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं।—इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा आत्मा में अनुभव करना चाहिये। यही प्रज्ञा द्वारा आत्मा को ग्रहण करने की रीति है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार (–रागादि व्यवहार भावों के अवलम्बन से) आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता।

१२०-प्रश्नः—व्यवहाररूप समस्त भाव कैसे हैं ?

उत्तरः—व्यवहाररूपभाव चैतन्य लक्षण से भिन्न हैं।

१२१-प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि का व्यवहार कैसा है ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि का शुभरागरूप व्यवहार भी चैतन्यलक्षण से भिन्न है और वह बंध का कारण है।

१२२-प्रश्नः—शुभरागरूप व्यवहार से क्या लक्ष्य होता है ?

उत्तरः—शुभरागरूप व्यवहार से बन्ध लक्ष्य होता है, उससे आत्मा लक्षित नहीं होता।

१२३-प्रश्नः—प्रज्ञा किसका अवलम्बन लेती है ?

उत्तरः—प्रज्ञा, आत्मा के चैतन्य-लक्षण का ही अवलम्बन लेती है, रागादि का अवलम्बन वह नहीं लेती।

१२४-प्रश्नः—व्यवहार के अवलम्बन द्वारा आत्मा का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

उत्तरः—क्योंकि व्यवहार तो बन्धमार्ग का अनुसरण करता है, इसलिये उस व्यवहार के अवलम्बन द्वारा तो बन्ध का ही ग्रहण होता है, आत्मा का ग्रहण नहीं होता।

१२५-प्रश्नः—रागादि व्यवहाररूप भावों का और आत्मस्वभाव का कैसा सम्बन्ध है ?

उत्तरः—आत्मा के स्वभाव में रागादि व्यवहाररूप भावों का अत्यन्त अभाव है।

१२६-प्रश्नः—न्याय शास्त्रों में जो प्राक्, प्रध्वंस आदि चार प्रकार के अभाव कहे हैं, उनमें से यह 'अभाव' कौन-से प्रकार में आता है ?

उत्तरः—उन चार प्रकार के अभावों में यह 'अभाव' नहीं आता, क्योंकि यह तो उन चारों से भिन्न है; अध्यात्मदृष्टि से 'अभाव' है। अध्यात्मदृष्टि से आत्मा के शुद्धस्वभाव में व्यवहाररूप भाव नहीं हैं, और व्यवहाररूप भावों में आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसप्रकार उनका एक-दूसरे में अभाव है।

१२७-प्रश्नः—आत्मा की मुक्ति कैसे होती है ?

उत्तर:—आत्मा और बन्ध का भेदज्ञान करके शुद्ध आत्मा के ग्रहण से और बन्ध के त्याग से आत्मा की मुक्ति होती है।

१२८-प्रश्न:—मोक्षार्थी को क्या जानना चाहिये?

उत्तर:—मोक्षार्थी को ऐसा जानना चाहिये कि एक चैतन्यमय भाव ही मैं हूँ और वही मुझे ग्रहण करने योग्य है; इसके अतिरिक्त अन्य रागादि भाव हैं, वे परभाव हैं, वे मेरे स्वभाव के भाव नहीं हैं; इसलिये वे सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

१२९-प्रश्न:—शुभराग भी पर का भाव है?

उत्तर:—हाँ, क्योंकि शुद्ध चैतन्यस्वभाव में वह भाव नहीं है; इसलिये वह पर का भाव है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव में जो अभेद है, वही आत्मा का स्वभाव है।

१३०-प्रश्न:—शुद्ध चिन्मय भाव को ही 'ग्रहण करना' इसका क्या अर्थ?

उत्तर:—ग्रहण करना अर्थात् अनुभव करना; उसमें एकाग्र होना।

१३१-प्रश्न:—व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग कैसा है?

उत्तर:—मोक्ष के लिये व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी सर्वथा हेय है। आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि—

एकश्चित्तश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वतः एव हेयाः॥१८४॥

अर्थात् चैतन्य का तो एक चिन्मय ही भाव है; जो अन्य भाव हैं, वे वास्तव में पर के भाव हैं; इसलिये चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है; अन्य भाव सर्वथा छोड़ने योग्य हैं।

१३२-प्रश्न:—अन्य भाव सर्वथा छोड़ने योग्य क्यों हैं?

उत्तर:—क्योंकि जहाँ अन्तर में चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ, वहाँ मोक्षार्थी को शुद्ध चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त परभावों का अवलम्बन छूट ही गया है; इसलिये वे समस्त परभाव सर्वथा हेय हैं। अंतर्मुख होने पर बहिर्मुखभाव सहज ही छूट जाते हैं। जहाँ अंतर्मुख होकर शुद्ध चैतन्यभाव का ग्रहण किया, वहाँ बहिर्मुख परभावों का ग्रहण कैसे होगा? अंतर्मुख होकर स्वभाव का ग्रहण करने पर, बहिर्मुख परभाव छूट ही जाते हैं; इसलिये मोक्षार्थी के लिये वे परभाव सर्वथा हेय ही हैं, और एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही सर्वथा उपादेय है—ऐसा जानना।

१३३-प्रश्न:—ज्ञानी परभावों को अपना क्यों नहीं मानता?

उत्तर:—भेदज्ञान द्वारा जिसने शुद्ध आत्मा को ही अपना जाना है और शेष समस्त भावों को अपने से भिन्न पराया जाना है, वह ज्ञानी उन परभावों को अपने स्वभाव में कैसे एकमेक करेगा ?—वह रागादि से लाभ क्यों मानेगा ?—नहीं मानेगा।

१३४-प्रश्न:—इसका दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर:—जिसप्रकार आर्य मनुष्य कि जिसे स्वप्न में भी माँस भक्षण का भाव न हो, वह ''माँस भक्षण करने योग्य है''—ऐसा वाणी द्वारा कैसे बोल सकता है ?—नहीं बोल सकता; उसीप्रकार जिसने रागादि परभावों से भिन्न आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव किया है—ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा, रागादि परभावों को अपने स्वभाव में कैसे एकमेक करेंगे ?—नहीं करेंगे। और उन ज्ञानी के वचन में ''राग से लाभ होता है''—ऐसा प्रतिपादन भी कैसे आ सकता है ?—नहीं आ सकता।

१३५-प्रश्न:—परभाव, आत्मा के क्यों नहीं हैं ?

उत्तर:—क्योंकि निश्चय से आत्मा के स्वभाव को और रागादि परभावों को स्व-स्वामि सम्बन्ध का असंभव है; इसलिये शुद्ध चैतन्यभाव ही आत्मा का स्वकीय भाव होने से उपादेय है और शेष समस्त परभाव छोड़ने योग्य हैं;—ऐसा सिद्धान्त है।

१३६-प्रश्न:—आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वभाव का और रागादि परभावों का वास्तव में स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं है—ऐसा कहा; तो रागादि का स्वामी कौन है ?

उत्तर:—रागादि का स्वामी अज्ञानी है।

१३७-प्रश्न:—आजकल कौन से दिन चल रहे हैं ? (अषाढ़ कृष्णा अष्टमी।)

उत्तर:—इस समय 'सोलह-कारणभावना' के दिन चल रहे हैं। इन दिनों में—

'दरशविशुद्ध भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय... परम गुरु हो... जय जय नाथ... परम गुरु हो...

—इत्यादि पूजन पढ़ते हैं।

१३८-प्रश्न:—सोलहकारण भावना तीर्थंकरप्रकृति के बंध का कारण है—तो वह भाव कैसा है ?

उत्तर:—वह भी बंध का कारण है, इसलिये बंधभाव है; वह स्वभाव नहीं है। जो बंध का कारण हो, वह स्वभाव कैसे होगा ? और वह उपादेय भी कैसे होगा ? (दर्शनविशुद्धि आदि सम्बन्धी जो शुभविकल्प है, उसी को यहाँ बंध का कारण समझना; शुद्धता को नहीं।)

यद्यपि दर्शनविशुद्धिभावनादि सोलह भावनाएँ वास्तव में सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं और सम्यग्दृष्टि को ही तीर्थंकरप्रकृति का बंध होता है; तथापि सम्यग्दृष्टि तो अपने एक शुद्ध चैतन्यभाव को ही उपादेय जानते हैं; तीर्थंकरप्रकृति के बंध के कारणरूप शुभराग को भी वे वास्तव में उपादेय नहीं जानते। सोलह भावना के शुभराग को ही धर्म मानकर जो उपादेय माने, वह तो मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यादृष्टि को यथार्थ सोलह भावनाएँ नहीं होती।

१३९-प्रश्नः—सम्यग्ज्ञानी क्या करते हैं ?

उत्तरः—जो सम्यग्ज्ञानी है, वह एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव को ही अपना जानकर ग्रहण करता है, और शेष समस्त परद्रव्य तथा परभावों को अपने स्वभाव में एकरूप नहीं मानता, अर्थात् हितकर नहीं मानता किंतु उन्हें अपने से भिन्न जानकर छोड़ता है।

१४०-प्रश्नः—मोक्ष के लिये कैसा सिद्धान्त है ?

उत्तरः—मोक्षार्थी को सर्वथा एक चैतन्यभाव ही ग्रहण करने योग्य है और शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं।—ऐसा सिद्धान्त है।

१४१-प्रश्नः—मोक्षार्थी जीवों को कौन-से सिद्धान्त का सेवन करना योग्य है ?

उत्तरः—मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि—"मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के रागादि भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।"—इस सम्बन्ध में कलश कहा है कि:—

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धचिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणास्तेऽहं
नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

१४२-प्रश्नः—मोक्ष की साधना करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तरः—मोक्ष का साधक जीव निःशंक तथा उल्लसित वीर्यवान होता है। अल्पकाल में परम आनन्दस्वरूप मोक्षपद को साधना है; इसलिये उसके परिणाम उल्लासमय होते हैं। मुझे अब अनंत भव में भटकना पड़ेगा—ऐसी शंका उसे नहीं होती।

१४३-प्रश्नः—साधक सम्यग्दृष्टि को भव की शंका क्यों नहीं होती ?

उत्तरः—क्योंकि उसकी दृष्टि में एकरूप नित्य शुद्ध चैतन्यस्वभाव आ गया है; उस स्वभाव में भव नहीं है, इसलिये उसे भव की शंका नहीं होती।

१४४-प्रश्नः—बंधन होने की शंका किसे होती है ?

उत्तरः—जो जीव अपराधी हो उसे।

१४५-प्रश्नः—अपराधी कौन है ?

उत्तरः—जो जीव, परद्रव्य को अपना मानकर उसका ग्रहण करे, वह अपराधी है। अथवा जो पर से भिन्न शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप आराधना से रहित है, वह अपराधी है।

१४६-प्रश्नः—निरपराधी कौन है ?

उत्तरः—जो जीव, पर से भिन्न शुद्ध आत्मा के अनुभवसहित है और परद्रव्य को किंचित् भी अपना नहीं मानता, वह निरपराधी है।

१४७-प्रश्नः—वह निरपराधी जीव कैसा होता है ?

उत्तरः—''उपयोग ही जिसका एक लक्षण है—ऐसा ही एक शुद्ध आत्मा मैं हूँ''—ऐसा निश्चय करके वह निरपराधी जीव शुद्ध आत्मा की सिद्धि (अर्थात् अनुभव) जिसका लक्षण है—ऐसी आराधनासहित सदैव वर्तता है; इसलिये वह आराधक ही है। और शुद्ध आत्मा के अनुभव के कारण, 'मुझे बंधन होगा'—ऐसी शंका उसे नहीं होती; इसप्रकार निरपराधी जीव निःशंक होता है कि मैं बँधूँगा नहीं, मैं तो अल्पकाल में ही मोक्षपद प्राप्त करूँगा।

१४८-प्रश्नः—सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव किसे स्पर्श करता है ?

उत्तरः—धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का ही स्पर्श करता है।

१४९-प्रश्नः—वह सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव किसे स्पर्श नहीं करता ?

उत्तरः—धर्मी जीव, बंध को किंचित् स्पर्श नहीं करता।

१५०-प्रश्नः—स्पर्श करने का क्या अर्थ ?

उत्तरः—स्पर्श करना अर्थात् सेवन करना, अनुभवन करना। धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का ही सेवन करता है, उसी का अपने स्वभावरूप से अनुभवन करता है, और बन्धभाव का स्पर्श नहीं करता, इसलिये उसका सेवन नहीं करता, उसका अपने स्वभावरूप से अनुभवन नहीं करता, किन्तु स्वभाव से भिन्न जानता है।

१५१-प्रश्नः—अज्ञानी जीव किसे स्पर्श नहीं करता ?

उत्तरः—अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव का स्पर्श नहीं करता; उसका सेवन नहीं करता, उसका अनुभव नहीं करता।

१५२-प्रश्नः—तो वह अज्ञानी किसे स्पर्श करता है ?

उत्तरः—वह अज्ञानी, बंधभाव का ही स्पर्श करता है, उसी का सेवन करता है; उसी को अपने साथ एकमेकरूप अनुभवन करता है।

१५३-प्रश्नः—जीव को लक्ष्मी या कुटुम्ब शरणरूप है या नहीं ?

उत्तरः—लक्ष्मी, कुटुम्ब या शरीर वह कोई वस्तु जीव को शरणरूप नहीं है।

१५४-प्रश्नः—शुभरागरूप पुण्य, जीव को शरणरूप है या नहीं ?

उत्तरः—शुभराग भी जीव को अशरणरूप है। उस राग की शरण से जीव को शान्ति, धर्म या मुक्ति नहीं होती।

१५५-प्रश्नः—तो फिर जीव को कौन शरणरूप है ?

उत्तरः—अपना शुद्ध आत्मा ही जीव को शरणरूप है, उसी के आश्रय से जीव को धर्म, शान्ति या मुक्ति होती है।

१५६-प्रश्नः—अरहन्त-सिद्ध-साधु और केवली प्ररूपित धर्म—इन चार को शरणरूप कहा है न ?

उत्तरः—उन चार में से अरहन्त-सिद्ध और साधु—यह तीन तो शुद्धता को प्राप्त आत्मा हैं; उनकी व्यवहार से शरण है और उन्हीं जैसा अपना शुद्ध आत्मा है, उसकी निश्चय से शरण है; तथा चौथी शरण केवली प्ररूपित धर्म की कही है, वह तो आत्मा का शुद्धस्वभाव ही है; अथवा केवली भगवान ने धर्म की प्ररूपणा में शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही धर्म होना कहा है; इसलिये शुद्ध आत्मा ही जीव को शरणरूप हैं।

१५७-प्रश्नः—जीव ने पूर्व अनादि काल से क्या नहीं किया ?

उत्तरः—जीव ने पूर्व अनादिकाल से अपने शुद्ध आत्मा का स्पर्श नहीं किया, उसमें रस नहीं लिया, उसकी गंध अंतर में नहीं उतारी, उसका कभी दर्शन नहीं किया, कभी श्रवण नहीं किया और न कभी उसका चिंतन या अनुभवन किया है।

१५८-प्रश्नः—अब जीव का क्या कर्तृत्व है ?

उत्तरः—शुद्ध आत्मा का श्रवण करके, उसमें रस लेकर (अर्थात् उसकी प्रीति करके), आत्मा में उसकी गंध उतारकर बारम्बार उसका स्पर्श करके (अर्थात् रुचि बढ़ाकर) अन्तर में उसका सम्यग्दर्शन करना और फिर बारम्बार उसका चिन्तवन-अनुभवन करना, वह जीव का कर्तव्य है और वही मोक्ष का हेतु है।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अध्यात्म भावना-भरपूर वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

[ज्येष्ठ कृष्णा १२-१३, वीर सं० २४८२, ''समाधि शतक'' गा० ८-९]

अन्तर में मेरा आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय भगवान है; ऐसा जो नहीं जानता, वह मूढ़-बहिरात्मा, बाह्य में जड़ शरीर को ही आत्मा मानता है; इस मनुष्य देह में विद्यमान आत्मा तो मनुष्य शरीर से पृथक् ज्ञानस्वरूप है—उसे नहीं पहिचानकर 'आत्मा ही मनुष्य है'—इसप्रकार शरीर को ही आत्मा मान रहा है। जो ज्ञातास्वरूप आत्मा को नहीं जानता, उसे धर्म बिलकुल नहीं होता है।

हाथी का शरीर देखे वहाँ 'यह जीव हाथी है'—इसप्रकार आत्मा को ही हाथी आदि तिर्यंचरूप मानता है; आत्मा देवशरीर में रहा, वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता कि मानो आत्मा ही देवशरीररूप हो गया है! और इसीप्रकार नारक शरीर में रहनेवाले आत्मा को नारकी मानता है; किंतु आत्मा तो अरूपी, ज्ञान-आनन्दस्वरूप है—ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। आत्मा, देह से बिलकुल भिन्न है, भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने पर भी आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप ही रहा है; चैतन्यस्वरूप से छूटकर वह कभी जड़रूप नहीं हुआ है।

आत्मा स्वयं तो ज्ञानस्वरूप ही है, वह कहीं मनुष्यादि शरीररूप नहीं हुआ है। मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारक—ऐसे नाम तो इस शरीर के संयोग से हैं; कर्म की उपाधि से रहित आत्मस्वरूप को देखें तो वह ज्ञान-आनन्दस्वरूप ही है; मनुष्यादि शरीर या उनकी बोलने-चलने की क्रिया कहीं आत्मा नहीं है, वह तो अचेतन-जड़ की रचना है। आत्मा, देह से भिन्न, अनंतशक्तिसम्पन्न अरूपी है; वह चक्षु आदि इन्द्रियों से दृष्टिगोचर नहीं होता, वह तो अंतर के अतीन्द्रिय स्वसंवेदन से ही ज्ञात होता है। ऐसे अपने आत्मा को जीव ने अनादिकाल से नहीं जाना और देह में ही अपनत्व माना है;

इसलिये चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा क्या है—यह जाने बिना, धर्मी नाम धारण करके भी देहादि की क्रिया को धर्म मानकर, मूढ़ जीव संसार में ही भटकता है। मैं तो अनंत ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ; देह से, इन्द्रियों से, राग से पार, ज्ञान से ही स्वसंवेद्य हूँ; अपने स्वसंवेदन के बिना अन्य किसी उपाय से ज्ञात हो—ऐसा आत्मा नहीं है। स्वयं अपने से ही अनुभव में आवे—ऐसा आत्मा है। ऐसा आत्मा आदरणीय है; उसी को अपना मानकर बहुमान करनेयोग्य है। देहादि अपने से भिन्न है, आत्मा उनरूप नहीं है। अज्ञानी, जड़ शरीर को ही देखता है और उसी को आत्मा मानता है, किंतु जड़ से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जानता;— इसलिये वह बहिरात्मा है। श्रीगुरु, देहादि से भिन्न चिदानन्दस्वरूप बतलाते हैं; जो उस स्वरूप को समझे, उसे श्रीगुरु के प्रति बहुमान का यथार्थ भाव आता है कि अहो! श्रीगुरु ने मुझे परम अनुग्रहपूर्वक चिदानन्दस्वरूप आत्मा बतलाया। अपने को स्वसंवेदन हो, तभी ज्ञानी गुरु की यथार्थ पहिचान होती है और उनके प्रति सच्ची भक्ति आती है। मात्र शुभराग द्वारा भी चिदानन्दस्वरूप आत्मा समझ में नहीं आता; और अपने आत्मा को पहिचाने बिना सामनेवाले आत्मा की पहिचान भी नहीं होती।

सम्यग्दृष्टि—अन्तरात्मा अपने आत्मा को देहादि से भिन्न ऐसा जानता है कि मैं तो अनंतज्ञान और आनन्दशक्ति से भरपूर हूँ, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में मैं अचल हूँ, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप से मैं कभी च्युत नहीं होता;—ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप की जो सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान हुए, उन्हें डिगाने के लिये अब जगत् की कोई प्रतिकूलता समर्थ नहीं है। ज्ञानस्वरूप के आश्रय से जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान हुए, वे अब आत्मा के ही आश्रय से अचल-स्थिर रहते हैं; किसी संयोग के कारण श्रद्धा-ज्ञान चलायमान नहीं होते। ऐसे स्वसंवेदन से आत्मा के वास्तविकस्वरूप की पहिचान करना, वह बहिरात्मपने से छूटने और अंतरात्मा-धर्मात्मा होने का उपाय है; और फिर आत्मा के चैतन्यस्वभाव में ही लीन होकर स्वयं परमात्मा बन जाते हैं।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है और यह शरीर तो जड़ है। आत्मा और शरीर एक स्थान में साथ रहने पर भी दोनों के अपने-अपने भाव पृथक् हैं, इसलिये भावों से भिन्नता है। जिसप्रकार एक कसाई जैसा जीव और दूसरा सज्जन—दोनों एक ही घर में साथ रहने पर भी दोनों के भाव भिन्न ही हैं; उसीप्रकार इस लोक में आत्मा और जड़ शरीरादि एक क्षेत्र में रहने पर भी दोनों के भाव बिलकुल भिन्न हैं। आत्मा अपने ज्ञान-आनन्दादि भावों में विद्यमान है और कर्म-शरीरादि तो अपने अजीव-जड़भावों में रहते हैं; दोनों की एकता कभी नहीं हुई है। ऐसी अत्यन्त भिन्नता होने पर भी,

मूढ़ आत्मा, जड़ से भिन्न अपने स्वरूप को नहीं जानता और देहादि ही मैं हूँ—ऐसा मानकर मिथ्याभाव में प्रवर्तता है।—वही संसार दुःख का कारण है। शुद्धज्ञान और आनन्द के अतिरिक्त अन्य सब मेरे स्वरूप से बाह्य है—इसप्रकार अंतरात्मा अपने आत्मा का समस्त परभावों से भिन्न शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप से अनुभव करता है। पर्याय में रागादि उपाधिभाव हैं, उन्हें जानता है, किंतु ऐसा नहीं मानता कि आत्मा उन रागादिस्वरूप अशुद्ध हो गया है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा राग से भी पार है, उसे अन्तर्दृष्टि से देखता है—वह अंतरात्मा है।

अरे भाई! तेरे आत्मा का यथार्थ स्वरूप क्या है—उसे एकबार जान तो सही! यह मनुष्य देह तो स्मशान में जलकर भस्म हो जायेगी; शरीर तो जड़ परमाणु एकत्रित होने से बना है, वह आत्मा नहीं है। आत्मा तो अनादि-अनंत ज्ञानानन्दस्वरूप से अचल रहनेवाला है। पुण्य-पाप की क्षणिक वृत्तियाँ आयें और जायें, उतना आत्मा नहीं है; आत्मा तो देह से, राग से पार ज्ञानादि अनंत गुणस्वरूप है, उसके साथ एकता करके जहाँ उसके आनंद का स्वसंवेदन किया, वहाँ बाह्य पदार्थ अंशमात्र अपने भासित नहीं होते, और उनमें कहीं सुखबुद्धि नहीं रहती। चैतन्य का सुख, चैतन्य में ही है—उसका स्वाद जाना, वहाँ संयोग की भावना नहीं रहती।

अज्ञानी को अंतरंग चैतन्यानन्द के स्वाद की खबर नहीं है, इसलिये वह बाह्य संयोग में सुख मानकर, उस संयोग की ही भावना भाता है और संयोग प्राप्त करके उनके उपभोग द्वारा सुख लेना चाहता है; किंतु जड़ संयोगों में से अनंत काल में भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि चैतन्य का सुख बाह्य में नहीं है। अज्ञानी जीव, बाह्य संयोग की ओर के राग-द्वेष, हर्ष-शोक का ही वेदन करता है किंतु संयोग से और राग से पार असंयोगी चैतन्यस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन उसे नहीं है। यहाँ पूज्यपादस्वामी आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं कि हे जीव! तेरा आत्मा, मनुष्यादि शरीररूप नहीं है; अनंत ज्ञान-आनन्द शक्तिस्वरूप तेरा आत्मा है, उसे तू अंतर में स्वसंवेदनपूर्वक जान।

भ्रान्ति टली और भान हुआ तब.....

जिसप्रकार अंधकार के कारण कोई पुरुष वृक्ष के ठूँठ को या पत्थर के खम्भे को पुरुष मानकर उसे बुलाये, उससे प्रेम करे, उससे लड़े और लड़ते-लड़ते वह ऊपर गिरे तब ऐसा माने कि इसने मुझे दबा दिया। और कहे कि भाईसाहब, अब तो उठ!—इसप्रकार उसके साथ भ्रान्ति से अनेक प्रकार की चेष्टाऐं करे; किंतु जहाँ प्रकाश हो, वहाँ दिखाई देता है कि अरे! यह तो पुरुष नहीं किंतु पत्थर है-ठूँठ है, मैंने भ्रान्तिपूर्वक व्यर्थ ही चेष्टा की! उसी प्रकार अज्ञानी जीव, अज्ञानरूपी अंधकार के कारण अचेतन शरीरादि को ही आत्मा मानकर उसके साथ प्रीति करता था, बाह्य विषयों को अपना इष्ट-अनिष्टकारी मानकर उसके साथ राग-द्वेष करता था, और देह की क्रियाऐं मेरी ही हैं—मैं ही खाता हूँ, मैं ही बोलता हूँ—ऐसा मानकर भ्रान्ति से अनेकप्रकार की चेष्टाऐं करता था; किंतु जहाँ ज्ञान प्रकाश हुआ और स्वसंवेदन द्वारा आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न जाना, वहाँ धर्मी जानता है कि अरे! मैंने पूर्व अज्ञानदशा में भ्रम से देह को ही आत्मा मानकर व्यर्थ चेष्टाऐं कीं; किंतु अब भान हुआ कि यह शरीर तो मुझसे अत्यन्त भिन्न अचेतन है। जिसप्रकार लकड़ी का खम्भा मुझसे पृथक् है, उसी प्रकार यह शरीर भी मुझसे भिन्न है। मैं तो अरूपी चैतन्यस्वरूपी स्वसंवेद्य हूँ; शरीर से मेरी जाति ही भिन्न है।

शरीर रूपी, मैं अरूपी; शरीर जड़, मैं चेतन;

शरीर संयोगी, मैं असंयोगी; शरीर विनाशी मैं अविनाशी;

शरीर अंध, मैं सूझता; शरीर इन्द्रियग्राह्य, मैं अतीन्द्रिय स्वसंवेदनग्राह्य;

शरीर मुझसे बाह्य-परतत्त्व, और मैं अंतरंग चैतन्यमूर्ति स्वतत्त्व।

इसप्रकार शरीर की और मेरी अत्यन्त भिन्नता है। ऐसे अत्यन्त भिन्नपने के विवेक से जहाँ भेदज्ञान हुआ, वहाँ धर्मी को शरीर की चेष्टाओं के प्रति उदासीनता हो गई है, अर्थात् शरीर की चेष्टा मेरी है-ऐसा अब किंचित्मात्र भासित नहीं होता। अज्ञानता में जड़ इन्द्रियों को अपना मानकर इन्द्रियों का दास-विषयों का गुलाम हो रहा था, और अब ज्ञानदशा में अपने को जड़ इन्द्रियों से भिन्न जाना है, इसलिये ज्ञानी इन्द्रियों का दास नहीं है किंतु उनसे उदास है और अतीन्द्रिय आत्मा का दास (उपासक) है। इसप्रकार देहादि से अत्यन्त उपेक्षित होकर चिदानन्दस्वरूप की उपासना द्वारा उसे समाधि (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति होती है। देहादि से भिन्न आत्मतत्त्व के चिन्तन बिना कभी समाधि होती ही नहीं। *[—समाधिशतक प्रवचन से]*

धन्य वह पुत्र... और धन्य वह माता

कुँवर कन्हैया जैसे आठ वर्ष के कोमल राजकुमार को आत्मा के भान सहित वैराग्य होने पर जब आनन्द में लीनता की भावना जागृत होती है, तब माता के पास जाकर दीक्षा के लिये आज्ञा माँगते हैं कि हे माता! अब मैं आत्मा के परम आनन्द की साधना के लिये जाता हूँ... हे माता! अब मैं सुखी होने के लिये जाता हूँ... माता की आँखों से आँसुओं की धारा बहती है और पुत्र के रोम-रोम में वैराग्य की छाया छा गई है। वह कहता है कि अरे माता! जननी होने के नाते तुम मुझे सुखी करना चाहती हो, तो अब मैं मेरे अपने सुख की साधना के लिये जाता हूँ; तू मेरे सुख बाधक न हो, अनुमत हो। माँ! मैं अपने आत्मानन्द की साधना के लिये जाता हूँ; उसमें तू दु:खी होकर विघ्न न डाल। हे जननी! मुझे आज्ञा दे, मैं आत्मा के आनन्द में लीन होने जा रहा हूँ।

माता भी धर्मात्मा है; वह पुत्र से कहती है कि बेटा! मैं तेरे सुख के पंथ में विघ्न नहीं डालूँगी; तेरे सुख का जो पंथ है, वही हमारा पंथ है। माता की आँखों से आँसू की धारा बहती जाती है और वैराग्यपूर्वक कहती है कि हे पुत्र! तू आत्मा के परम आनन्द में लीन होने के लिये जाता है, तो मैं तेरे सुख के पंथ में बाधक नहीं बनूँगी... मैं तुझे नहीं रोकूँगी... तू मुनि होकर आत्मा के परम आनन्द की साधना के लिये तैयार हुआ है, उसे मेरा अनुमोदन है। बेटा! तू आत्मा के निर्विकल्प आनन्दरस का पान कर! हमें भी वही करने योग्य है।—इसप्रकार माता, पुत्र को आज्ञा देती है।

अहा! आठ वर्ष का कुँवर जब वैराग्यपूर्वक इसप्रकार माता से आज्ञा माँगता होगा और माता जब उसे वैराग्यपूर्वक सुख पंथ में विचरने की आज्ञा देती होगी, वह अपूर्व प्रसंग कैसा होगा!!

फिर वह छोटा-सा राजकुमार दीक्षा लेकर, मुनि होकर, एक हाथ में छोटा-सा कमंडल और दूसरे में पींछी लेकर निकलता होगा, उस समय तो ऐसा लगता होगा मानों छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतरे हों! वैराग्य का अद्‌भुत दृश्य! आनन्द में लीनता! वाह रे वाह! धन्य वह दशा!

और फिर जब दो-तीन दिन में आहार के लिये निकलते होंगे, आनन्द में झूलते हुए धीरे-

धीरे चलते होंगे और आहार के लिये नन्हें-नन्हें हाथों की अंजलि जोड़कर खड़े रहते होंगे, वह दृश्य कैसा होगा!!

फिर वे आठ वर्ष के मुनिराज अपने अंतः तत्त्व-कारणपरमात्मा के बल द्वारा आत्मध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं और सिद्ध हो जाते हैं।—ऐसी आत्मा की शक्ति है। आज भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमंधरादि भगवान के निकट आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसंग बनते हैं। [—प्रवचन से]

मुंबई शहर में दसलक्षणी पर्व का उत्सव

मुंबई में दि० जैन मुमुक्षु मंडल के द्वारा भव्य नव निर्मित दि० जैन मन्दिर मुम्बादेवी रोड (नं० १७३-७५) के ऊपर है जो चार लाख की लागत से तैयार हुआ है, मन्दिरजी में श्री सीमन्धरादि जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी जिन प्रतिमा विराजमान हैं, इस साल महा मनोज्ञ जिनेन्द्र भगवंतों की मंगलमय छाया में प्रथम बार ही दस लक्षण धर्म पर्व का उत्सव होने से मुंबई के भक्तजनों में बहुत उत्साह था। भाद्र० सुद ५ से शुरु करके वदी १ तक बड़े हर्ष उत्साह और ठाठ बाट से यह उत्सव मनाया था। व्याख्यान के लिये राजकोट से भाईश्री लालचंदभाई को खास आमंत्रित करके बुलाया था जो अच्छे मनोज्ञ वक्ता हैं।

पूजा विधान में—दसलक्षण, सोलहकारण, पंचमेरु आदि के नये-नये मंडल बनाकर हमेशा-जिनमंदिर में समूह अभिषेक और पूजन विधि हुआ करती थी। बाद शास्त्र सभा रात्रि को भी हमेशा व्याख्यान का प्रोग्राम था, नव तत्त्व संबंधी बालकों द्वारा निबंध स्पर्धा की योजना थी। भाद्र० बदी १ श्री जिनेन्द्र देव की भव्य रथयात्रा का विशाल जुलूस निकला था, भजन गान नृत्यादि अनेक विविधता सह अति उत्साह से पूर्ण यह रथयात्रा देख-देखकर मुंबई में लोग भारी प्रभावित हुए थे।

गुलालवाड़ी-भूलेश्वर के दि० मंदिर की ओर से भी इस रथयात्रा में अच्छा सहकार मिला

था, विशाल और लंबी यात्रा रूप लम्बा जुलूस था, भगवान के रथ हाथों हाथ खींचने में बड़े-बड़े गृहस्थ लोग भी अपने को धन्य समझकर परस्पर प्रेम उत्साह प्रगट कर रहे थे।

शास्त्र स्वाध्याय का प्रचार बढ़े, इस हेतु से शास्त्र बढ़ाने के लिये ५००० रुपयों का फंड हुआ।

सुगंध दशमी का दिन विशेष हर्षपूर्वक मनाया था—इस मंडल के सब भाई-बहिन एकत्रित होकर बाजे के साथ मुंबई के पाँचों दि० जैन मंदिर में दर्शनार्थ गये थे, पूर्णिमा के दिन चौपाटी पर शेठ श्री माणेकचंदजी के कांच के मंदिर में खास आमंत्रण से भक्ति का प्रोग्राम रखा था प्रत्येक कार्यक्रम उत्तम व्यवस्थामय थे।

इस जिन मंदिर में विराजमान श्री सीमंधरादि भगवंतों की परम पावन सौम्यमुद्रा-अतिशय उपशान्त और भाववाही है "जिनप्रतिमा जिन सारखी" वे दिव्य भव्य जिन मुद्रा दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करती है, इसलिये इस मंडल के सभ्यों के उपरांत-मुंबई के जैन जैनेतर जनता-हजारों की बड़ी संख्या में आ आकर भगवान के दर्शन का लाभ लिया करते हैं और इस पर्व में श्वेताम्बर भाइयों ने भी दर्शन करने में बहुत प्रेमपूर्वक भाग लिया।

इसप्रकार पूज्य कानजी स्वामी के सदुपदेश से नवनिर्मित विशाल जिन मंदिर महान धर्म प्रभावना का और उत्साह का कारण बना, इन सबके लिये मुंबई नगरी के मुमुक्षुओं और मुमुक्षु मंडल के प्रमुख श्री मणिलाल जेठालाल शेठ धन्यवाद के पात्र हैं।

गोंडल शहर (सौराष्ट्र) में जिनमंदिर का शिलान्यास

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सातिशय महान धर्म प्रभाव से आज तक अनेक जिनमंदिर हुए और अब भी अनेक स्थल पर बंधते हैं। गोंडल में आसोज सुदी दसमी के दिन श्री दि० जैन मंदिर के शिलान्यास की विधि बड़े समारोह ठाट-बाट सहित रथयात्रादि के बड़े जुलूस सहित अपूर्व उत्सव मनाया गया; इस समय राजकोट से श्री चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमाजी को पधराया था। पूजन विधि सब मिलकर होने के बाद बड़ी सभा समूह के बीच में शेठ बेचरलाल कालीदास (राजकोट) ने जिनमंदिर का शिलान्यास किया और ५००१) जिनमंदिर को दान में दिया, बाद शेष्ठ श्री बच्छराज गुलाबचन्द (सोनगढ़) ने ७००१) दिये अन्य मुमुक्षु भाईयों ने भी बड़े उत्साह से करीब दस हजार दान में दिया। मंदिर बड़ा मनोज्ञ होनेवाला है—इस शहर में विशेषता यह है कि

खेती करनेवाले पाटिले कृषिकार भाई के १० घर हैं जो बड़ी भक्ति से १० साल पूर्व पक्के दि० जैन बन चुके हैं और समझदार हैं। दूसरी विशेषता यह हुई कि जिन मंदिर के शिलान्यास प्रसंग पर बड़ी संख्या में राजकोट, सोनगढ़, पोरबंदर, मोरबी, बांकानेर आदि मुख्य स्थलों से मुमुक्षु भाई-बहिनें आकर उत्साहपूर्वक भाग लिया, गोंडल शहर में इस मंगलकार्य को शुरु करने के लिये वहाँ के मुमुक्षुओं को धन्यवाद।

****

दूसरे का दुःख मिटाने का 'दुःख!'

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि... अरे जीव! तू शांत हो.. धैर्य रख...! दूसरे का किंचित् दुःख देखकर एकाकाररूप से तुझे ऐसा लगता है कि मैं उसका दुःख दूर कर दूँ; किन्तु हे भाई! सम्पूर्ण जगत के सर्व जीवों के दुःख क्या हम नहीं देखते! जगत के जीवों का दुःख देखते हुए भी हमें ऐसी रागवृत्ति नहीं उठती कि 'मैं इसका दुःख दूर कर दूँ।' पर के दुःख का ज्ञान तो है, किन्तु रागबुद्धि नहीं होती; इसलिये (हमारा उदाहरण लेकर) हे जीव! तू समझ कि आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान ही है; राग हो, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; पर को दुःखी देखकर राग हो, या राग के कारण जीव, पर का दुःख दूर कर सके—ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानने पर भी ज्ञानी को भी जो करुणा की शुभवृत्ति उठती है, वह अपनी अस्थिरता के कारण उठती है। अरे रे! यह अज्ञानी जीव अपने आनन्द निधान को भूलकर संसाररूपी दुःख सागर में डूब रहे हैं; वे अपने आनन्द निधान को पहिचानें, तभी उनका दुःख दूर हो;—ऐसी अनुकम्पा ज्ञानी को भी राग के समय आती है; किन्तु उस अनुकम्पा के कारण 'मैं पर का दुःख मिटा दूँ' ऐसा वे नहीं मानते; क्योंकि वे जानते हैं कि—जगत के जीवों को जो दुःख है, वह किन्हीं संयोगों के कारण नहीं है, किन्तु वे जीव स्वयं अपने आनन्दस्वभाव को भूले हैं, इसीलिये दुःखी हैं और वे स्वयं अपने आनन्दस्वरूप को पहिचानकर उसमें एकाग्र हों तो उनका दुःख दूर हो सकता है। उसके बदले दूसरा जीव माने कि 'मैं उनका दुःख दूर कर दूं'—अथवा संयोग अनुकूल मिल जायें तो वह सुखी होंगे तो वह जीव दूसरे का दुःख तो नहीं मिटा सकता किन्तु उस मिथ्या अभिप्राय के कारण वह जीव स्वयं दुःखी होता है। [पंचास्तिकाय गाथा १३७ के प्रवचन से]

****

नया प्रकाशन

मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से माँग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्तपूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय-प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है। शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्त्वप्रेमियों को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९००, मूल्य लागत मात्र, ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवाले को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

मंगानेवालों की संख्या बहुत होने से आगे से ग्राहक होनेवालों को प्रथम मिलेगा। ओर्डर शीघ्र भेज दीजियेगा। सुभीते के लिये मदनगंज से भी पुस्तक भेजी जावेगी।

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५ ॥=)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३ ।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)		

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।